एक अवकाशप्राप्त रेलकर्मी की आत्मकथा

मेरी जीवनयात्रा

दिगम्बर साव

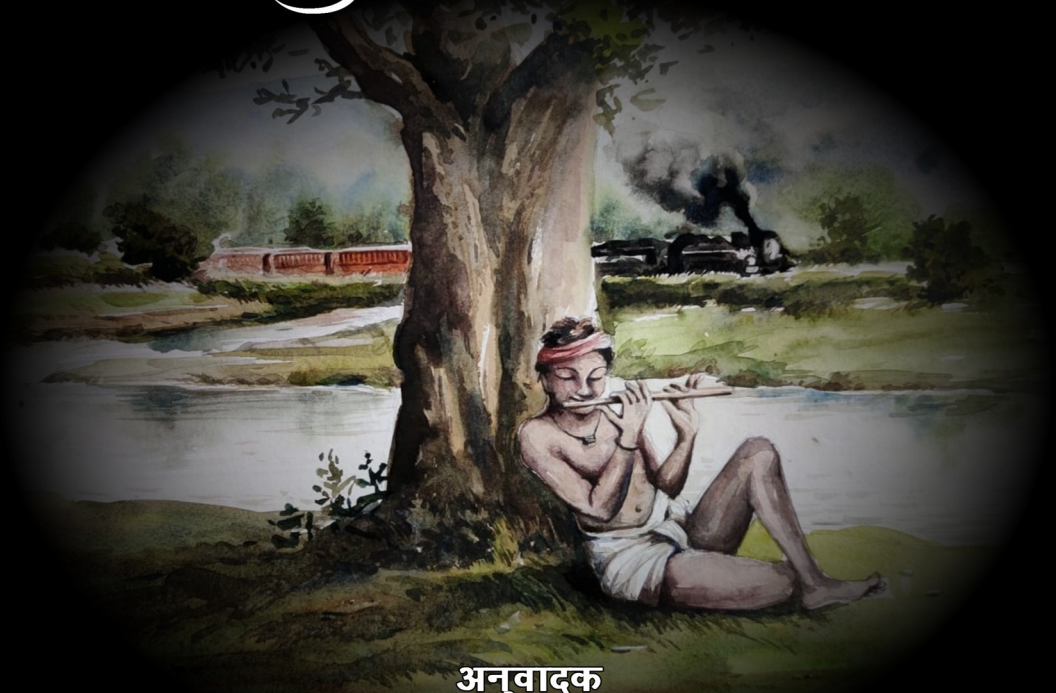

अनुवादक

जयदीप शेखर

मेरी जीवनयात्रा

–एक अवकाशप्राप्त रेलकर्मी की आत्मकथा–

लेखक
दिगम्बर साव

अनुवादक
जयदीप शेखर

जगप्रभा
JAGPRABHA.IN

Cover Photo

Watercolour by Prashant Choudhury

prashant.artist12@gmail.com

-: eBook :-

MERI JEEWANYATRA

(Journey of my Life)

Hindi translation of a Bengali autobiography 'Aamar Yatrapath'-
autobiography of a retired Railway Employee.

Original author: Digambar Shaw (1936-2021)

Hindi translation: Jaydeep Das

(Pen Name: Jaydeep Shekhar)

Copyright © 2023: Kanchan Kumari Shaw

Published by:

JagPrabha

Barharwa (Sahibganj), Jharkhand- 816101

jagprabha.in | jagprabha.bhw@gmail.com

Price: ₹ 100.00

Printed Version of this eBook is available at Pothi.Com

(https://store.pothi.com/book/digamber-shaw-meri-jiwanyatra/)

***

दो शब्द

इस जीवनयात्रा का विवरण शैशव से लेकर नौकरी से अवकाश लेने के दिन तक सीमाबद्ध है।

लिखना शुरू किया था मैंने जनवरी'2020 से और इसे पूरा किया मई'2020 में।

84 साल की उम्र में भूली-बिसरी को याद करने में थोड़ी भूल-भ्रान्ति हो ही सकती है, उसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

-दिगम्बर साव
अवकाशप्राप्त रेलकर्मी
बरहरवा (साहेबगंज), झारखण्ड- 816101

विषय सूची

दो शब्द 4
गाँव तथा बचपन 7
बेलघरिया 19
बरहरवा 21
पासपोर्ट 23
व्यवसाय और डेली-पैसेन्जरी 30
'किरकिरुआ' 36
मनोरंजन शर्मा 38
रेलवे में नौकरी 42
टाटानगर 45
दिल्ली-आगरा 47
ताजमहल 51
आगरा किला 51
राम-सीता मन्दिर 52
वापस टाटानगर 53
बड़ा जामदा 53
चक्रधरपुर हेडक्वार्टर 59
मानिकुई 60
पोकला 62
नोआमुण्डी 67
भालूलता 70
कान्द्रा 78
पानपोश 81
वीरमित्रापुर 83
बोलानी खदान 89
श्री श्री पहाड़ी बाबा 94
मो. अब्दुल कादिर 95
श्री कल्याण कुमार राय 96
बाँसपानी 98
दुर्गापूजा 100

लक्ष्मीपूजा 102
गोसानिका 102
लेनिन नाटक 103
अस्वस्थता की शुरूआत 104
श्यामल मित्र (गायक) 105
विचित्र घटना 106
लेप्रो 108
सोनिया 109
छोटा प्रलय 110
एक कुत्ते का प्रसंग 111
गायों से बिछुड़ना 112
चाईबासा 113
चक्रधरपुर 114
पुनश्च 121

मेरी जीवनयात्रा

गाँव तथा बचपन

हमारे गाँव का नाम अड्डुवापाड़ा था। विभाजन से पहले यह नदिया डिस्ट्रिक्ट में पड़ता था। बाद में कुस्टिया जिला हो गया। गाँव बहुत बड़ा था। प्रायः प्रत्येक घर के सामने नाना प्रकार के पेड़-पौधों से घिरा एक छोटा-सा तालाब हुआ करता था। मोहिनी मिल से गाँव की दूरी कोई एक मील थी।

जमीन्दार थे- बहादूर विश्वास। छोटे श्यामवर्ण चेहरे वाले वृद्ध व्यक्ति, लेकिन जमीन्दारों वाला आभिजात्य था उनमें। उनके घर के सामने आम के दो विशाल पेड़ थे। बहुत आम होते थे दोनों पेड़ों पर। हवा चलते ही टपा-टप आम गिरते थे। जिसका मन होता, इन पके आमों को चुनकर खाता- कोई रोक-टोक नहीं थी।

हम लोगों की घर-गृहस्थी करीब दस कट्ठे जमीन पर फैली हुई थी। बिना किसी लिखा-पढ़ी के, एक हिस्से में मेरे ताऊजी नवकुमार साव अपने परिवार के साथ रहते थे। दूसरे हिस्से में मेरे पिताजी सतीश चन्द्र साव और चाचाजी जतीन्द्र नाथ साव अपने-अपने परिवारों के साथ रहते थे। दादाजी का नाम था- राम चन्द्र साव। आज सभी प्रयात हैं।

हम लोगों की एक घड़ी-दुकान थी मेन रोड पर- 'बेंगॉल वाच कम्पनी।' पिताजी और चाचाजी दुकान चलाते थे। कारीगर थे- पंचानन ताऊ। उनका घर दूर एक गाँव में था। सुबह दस बजे के लगभग दुकान आते थे और शाम पाँच बजे वापस लौट जाते थे।

जहाँ तक याद है, घड़ियाँ सभी swiss made हुआ करती थीं। एक पॉकेट घड़ी की कीमत हुआ करती थी- ढाई रुपये मात्र। उन दिनों कुशल कारीगर के बिना घड़ियों के व्यापार में नहीं उतरा जा सकता था।

मैं तब बहुत छोटा था, तीन-चार साल उम्र रही होगी। पिताजी का हाथ थामे सुबह आठ बजे के लगभग मोहिनी मिल जाया करता था। पिताजी का काम था

वहाँ बड़ेबाबू, मंझलेबाबू, छोटेबाबू लोगों के घरों में जाकर घड़ियों की देख-भाल करना। इसी काम के लिए पिताजी बीच-बीच में जाया करते थे।

पिताजी का हाथ थामे एक मकान के तिमंजिले पर जाता था। वहाँ लोहे का एक बहुत विशाल पहिया हुआ करता था। उसे वाष्प से चलाने के लिए ढेर सारे कोयले की जरूरत पड़ती थी। यह पहिया ही मिल की धुरी थी। पहिए के घूमने से ही मिल के अन्यान्य यंत्रादि चलते थे। रूई की धुनाई, करघों के ताने-बाने पर सूत की चढ़ाई, कपड़े की बुनाई सब इस पहिए की बदौलत ही होते थे।

मुझे बड़ेबाबू, मंझलेबाबू और छोटेबाबू लोगों के बँगले अच्छे लगते थे। बीच में मकान और चारों तरफ काफी सारी खुली जगह में ढालू लॉन। विभिन्न प्रकार के पौधों पर फूल खिले होते थे। सबसे अच्छा लगता था- मंझलेबाबू के गेट के सामने लताओं की तरह लटकते पीले रंग के गुलाब के गुच्छों का नजारा। कितनी मधुर खुशबू हुआ करती थी!

जाड़ा आते ही पतंग उड़ाने का मौसम शुरू हो जाता था। फूटबॉल भी खेला जाता था। क्रिकेट का चलन तब नहीं था। हमारे घर के सामने विशाल मैदान था। धागों पर मांझा लगाकर वहीं मैदान में सुखाते थे हम। 'शोलक' नाम का एक युवक पतंगबाजी में उस्ताद था। प्रतियोगी की पतंग को भाग-काटा करने में उसकी टक्कर का कोई नहीं था। इसलिए हम लोगों की नजरों में वह नायक था।

गोपी काका का घर सम्भवतः फरीदपुर में था। वे एकाकी जीवन बिताते थे। हमारी गृहस्थी में ही उन्होंने अपना ठिकाना बना लिया था। चाहे स्कूल में दाखिला करवाना हो, चाहे प्रत्याह बाजार से सौदा-सुलफ लाना हो, वे साथ रहते थे।

हम दो भाई कुस्टिया एकेडेमिक स्कूल में भर्ती हुए थे। दिलीप मेरे मुकाबले बहुत बुद्धिमान था। हम दोनों दो साल छोटे-बड़े थे। बाद में अपनी कुशाग्र बुद्धि के कारण उसने प्रोमोशन पा लिया। शुरू में हम दोनों एक ही क्लास में पढ़ते थे।

मैं पहली बार परीक्षा देने गया था। सरकण्डे की कलम होती थी और के.सी. दास की लिखने वाली टिकिया को दवात में पानी के साथ घोलकर स्याही बनायी जाती थी।

छोटी-सी सफेद धोती और कुर्ता पहनकर परीक्षा देने गया था। लौटते समय हाथों तथा कपड़ों पर कई जगह स्याही लगी हुई थी। इसी अवस्था में घर लौटा, माँ थोड़ी खिन्न हुई थीं।

हमारा स्कूल मेन रोड के किनारे था। पहले गर्ल्स स्कूल था, खिड़कियों पर शीशे लगे थे, दो या तीन-मंजिली इमारत थी। देखने में सुन्दर लगता था।

बीच में हमारा एकेडेमी स्कूल था और सबसे अन्त में हाई स्कूल था।

हमारे स्कूल के हेडमास्टर साहब का नाम श्री गोपीपद भट्टाचार्य था। सुना था कि देश-विभाजन के बाद उन्होंने कोलकाता के साउथ सुर्वान स्कूल में योगदान दिया था। सभी शिक्षकों के नाम अब याद नहीं रहे।

सुधीर चक्रवर्ती साहित्य का क्लास लेते थे। सदा प्रफुल्लित, रोबदार चेहरा।

क्लास में पढ़ाने के बीच में कहते थे- 'यह जो मेरी पॉकेट में पेन देख रहे हो, इसमें क्लिप नहीं है, फिर भी अनादर करके इसे मैंने फेंक नहीं दिया है, क्योंकि यह बहुत दिनों से मेरे पास है।'

बीच-बीच में देशप्रेम की कविताओं का भी पाठ करते थे वे। हम लोग दत्तचित्त होकर उनकी पढ़ाने की शैली को देखते और विषय के सारमर्म को समझते थे।

शशांक शेखर सान्याल हमें भूगोल पढ़ाते थे। कद-काठी से वे थोड़े नाटे थे, लेकिन शरीर बलिष्ठ था। उनके जुड़वाँ बेटे थे- रामू और श्यामू।

एक बार वे डूअर्स के चाय-बागान में एक मित्र के घर घूमने जा रहे थे। उन दिनों चारों तरफ घना जंगल हुआ करता था। वे जंगल से गुजर रहे थे। अचानक एक बाघ सामने पड़ गया, जान पर बन आयी। आमने-सामने की लड़ाई में बाघ से पार पाना मुश्किल था। इस विपत्ति से कैसे परित्राण पाया जाय- यही सोचने लगे वे। वे धीरे-धीरे अपने रास्ते पर बढ़ने लगे। बाघ धीरे-धीरे उनका पीछा करने लगा।

एक जगह उन्होंने देखा कि एक आदमी अपनी धुन में मग्न होकर बाँस काटने में लगा हुआ था। कुछ दूरी पर से ही उन्होंने अपने जूते उतारे और दबे पाँव उस आदमी के पीछे जाकर उसे धक्का देकर गिरा दिया। उस आदमी के हाथ से दाव छूटकर जमीन पर गिर गया। तुरन्त दाव अपने हाथ में लेकर उन्होंने कहा- 'वो देखो, बाघ आ रहा है।' वह आदमी बाघ को देख सिर पर पैर रखकर भाग खड़ा हुआ।

अब हमारे सान्याल सर दाहिने हाथ में दाव को मजबूती से थामे यह विचार करने लगे कि कैसे बाघ को काबू में किया जाय। उन्होंने सोचा कि अगर बाघ के मुँह में बाँया हाथ डालकर उसकी जीभ को भींच लिया जाय, तो बाघ को कुछ हद तक काबू किया जा सकता है। मन में अदम्य साहस और देह में प्रचण्ड शक्ति न रहने पर बाघ के साथ इस तरह मुकाबला करने के बारे में नहीं सोचा जा सकता।

बाघ उनके सामने कुछ दूरी पर बैठ गया था। सर भी तैयार थे। अचानक बाघ ने उन पर छलाँग लगाई और उधर सर ने भी बाँया हाथ उसके मुँह में घुसाकर मजबूती से उसकी जीभ पकड़ ली और दाहिने हाथ के दाव से उस पर लगातार प्रहार करना शुरू कर दिया। बाद में वे बता रहे थे- 'कितनी खुरदुरी थी बाघ की जीभ!' अन्ततः बाघ को मार ही डाला उन्होंने।

बाघ के साथ लड़ाई खत्म कर उस घायल अवस्था में ही मरे बाघ को घसीटते हुए वे किसी प्रकार दोस्त के घर तक पहुँचे। आवाज देने पर दोस्त की पत्नी ने लालटेन हाथ में लेकर दरवाजा खोला। उन्होंने बताया कि मित्र तो उन्हीं की खोज-खबर लेने निकले हुए हैं। सर का शरीर खून से लथपथ हो रहा था। लालटेन की रोशनी में अपने शरीर से बहते रक्त को देख सर बेहोश हो गये। अस्पताल में करीब छह महीने भर्ती रहने के बाद वे स्वस्थ हुए। सर के बाँये हाथ की केहुनी के ऊपर प्रायः चार ईंच स्थान पर मांस नहीं था। सिर्फ हड्डी के ऊपर प्लास्टिक-सर्जरी का निशान था।

इसे हमारा सौभाग्य ही कहा जायेगा कि हम लोगों को ऐसे शिक्षकों का सान्निध्य प्राप्त हुआ था।

हमारे गाँव में बिजली का प्रबन्ध नहीं था। शाम ढलते ही चारों तरफ अन्धेरा छा जाता था, जिसमें रोशनी के नाम पर जुगनू टिमटिमाते थे। हालाँकि हम निर्भय रहा करते थे। चोरों का उपद्रव नहीं था।

लालटेन की रोशनी में आँगन में बैठ हम पढ़ाई करते थे। सामने बाँस के जंगल के ऊपर चाँद मुस्कुराता था। कविता की एक पंक्ति मुझे बहुत प्रिय थी-

‘बाँस बागानेर माथार ऊपर चाँद उठेछे ओय, मागो एमन समय आमार शोलक बला काजला दीदी कोय।’[1]

प्रतिदिन सोने से पहले पिताजी हम लोगों को रामायण और महाभारत से कहानियाँ सुनाते थे। इन सुनी हुई कहानियों ने बाद के दिनों में हम लोगों की नैतिक चेतना को यथेष्ट रूप से प्रभावित किया था। कुछ अनुचित, अवांछित करने पर इन्हीं कहानियों के माध्यम से वे रास्ते पर लाते थे।

हमारे घर के बगल से एक पगडण्डी गुजरती थी। प्रायः प्रतिदिन मुँह-अन्धेरे उस पगडण्डी से कोई एक व्यक्ति सुमधुर स्वर में भजन गाते हुए गुजरते थे। उनका यह गान मुझे अवर्णनीय एक आनन्दलोक में पहुँचा देता था। मैंने चाक्षुष उन्हें कभी नहीं देखा; कभी दिखायी नहीं पड़े वे।

बहुत भोर में पक्षियों के कलरव से नीन्द टूटती थी। भागकर जाता था घर के एक कोने में लीची के पेड़ों के किनारे चहारदीवारी के पास।

चहारदीवारी पर चल रहा होता था विभिन्न चिड़ियों का गायन। कुछ को पहचानता था मैं, जैसे- श्यामा, दहियर, फिंगा, बुलबुल और मैना। उनकी सुरीली तानों से मेरे तन-मन में सिहरन दौड़ जाती थी। एक मुग्ध श्रोता बनकर मैं उनके निकट जा पहुँचता था, पर वे परवाह नहीं करती थीं। उनकी स्वरलहरियों में विन्दुमात्र का भी विचलन नहीं होता था।

कुछ पलों के लिए मेरा मन-प्राण एक अलौकिक आनन्द से भर जाता था, जो आज भी मेरी स्मृति में अम्लान है।

पिताजी देश से बहुत प्यार करते थे। सुबह उन्हें गाते हुए सुनता था- ‘एमन देशटि कोथाव खुजे पाबे नाको तुमि, सकल देशेर रानी सेजे सेईजे आमार जन्मभूमि।’

हमारी कम उम्र में ही पिताजी ने हम लोगों को प्रसिद्ध लेखकों की किताबें खरीदकर ला दी थीं। किताबें पढ़ने का नशा हम दोनों भाईयों को था। स्कूल से लौटते हुए दोस्तों से किताबें लेता था। शर्त होती थी- अगले दिन किताब लौटा देनी है। ज्यादातर जासूसी और रहस्य-रोमांच वाली किताबें होती थीं। स्कूल से घर आकर बिना कुछ खाये कमरे का दरवाजा बन्द कर घण्टे भर में पहले किताब

---

[1] बाँस बागान की फुनगियों पर चाँद उगा है, ओ माँ, ऐसे में कविता सुनाने वाली मेरी काजला दीदी कहाँ है?

को पढ़कर खत्म करता था, तब जाकर कुछ खाता था। खाना खाकर इन्तजार करता था एक गृहशिक्षक के लिए। वे शाम के समय घर आते थे। घण्टा भर पढ़ाते थे। बहुत अनिच्छा रहने पर भी पढ़ने बैठना होता था।

अब एक मुसलमान घरामि (फूस की छप्पर छाने वाला) की बात। सभी उसे 'दासू' कहकर पुकारते थे। वे जरा ऊँचा सुनते थे, इसलिए अक्सर उन्हें 'ठसा' (short of hearing) घरामि भी कहा जाता था। दिहाड़ी मजदूरी करते थे। उम्र 70 या 80 रही होगी- अनुमान लगाना मुश्किल था। सिर के बाल और दाढ़ी सब सफेद थी।

आँखें दोनों गोल थीं और होंठ पतले। बहुत ही कम बातचीत करते थे।

मैं बीच-बीच में उनके आस-पास चक्कर काटता था। उनके शरीर को देखता। मेदहीन। उभरी हुई शक्तिशाली शिराएं। उनके साथ बातचीत करने की कोशिश करता, लेकिन उनकी बातें स्पष्ट समझ में नहीं आती थीं। जिस दिन उन्हें कोई काम नहीं मिलता, वे हमारे घर चले आते थे। अपनी मर्जी से ग्वालघर, बेड़ा वगैरह मरम्मत करते थे और दिन ढलने पर शाम को घर चले जाते। गरई नदी के उस पार कहीं उनका घर था। घर जाने से पहले दुकान से अपनी मजदूरी लेते थे। मैंने कई बार दुकान के बाहर एक तरफ उन्हें खड़े देखा था। देर होने पर उन्हें कहते सुना था- 'बाबू, पैसे दीजिएगा- ', उन्हें जल्दी होती थी, क्योंकि नाव से उन्हें घर लौटना होता था। पैसे लेने के बाद वे एक पल नहीं ठहरते थे। कभी उन्हें पैसे गिनते नहीं देखा मैंने। शायद उन्हें भरोसा रहता था कि वाजिब मजदूरी ही मिलेगी।

एक दिन की बात है। शाम स्कूल से लौटा था। माँ ने जो नाश्ता दिया, वह मेरा मनपसन्द नहीं था। बिना कुछ खाये गुस्से में मैं निकल गया। घर के पास ही एक निर्माणाधीन बैठकखाने को पार करने के बाद ठिठका। लीची के पेड़ की छाँव में हरी दूब पर बैठकर दासू अपनी पोटली खोल रहे थे। केले के पत्ते पर उबली हुई थोड़ी-सी कलाई दाल, मोटे चावल का भात, (चावल उन दिनों दुर्लभ था), थोड़ा-सा नमक और कुछ हरी मिर्च- यही उनका दोपहर का भोजन था। मैं चकित होकर यह देख रहा था। इसके बाद कभी मैंने माँ को खाने को लेकर तंग नहीं किया।

मैं तब पहली कक्षा में था। मन के कुछ प्रश्न आज भी अनुत्तरित रह गये हैं। निर्माणाधीन बैठकखाना गाय-बकरियों का विश्रामस्थल था, लेकिन यहाँ भी वे नहीं बैठे थे। दूब वाली जमीन ही उन्हें अपने बैठने लायक स्थान लगा था। क्या उन्हें प्यास नहीं लगती थी? कभी उनको पानी माँगते हुए नहीं देखा। आस-पास कोई हैण्डपम्प भी नहीं था।

कौतूहल होने के बावजूद कभी उत्तर तलाशने की कोशिश मैंने नहीं की थी।

दासू ने कभी सरकारी अनुदान की आशा नहीं रखी। जीने के लिए उनका अनवरत संघर्ष परवर्तीकाल में मेरा पाथेय बना।

वे ही थे मेरे जीवन के प्रथम कर्मयोगी।

सुबह दुकान में घण्टे भर पढ़ाई करने के बाद बाजार जाता था, साथ होते थे- गोपी काका। रोहू मछली का एकमात्र सिर बचा हुआ था- मैं इसी का मोल-भाव कर रहा था। एकाएक मछली-विक्रेता की नजर मेरे पीछे खड़े एक सज्जन पर पड़ी। वह बोला- 'यह आप ले लीजिए बाबू।' प्रत्युत्तर में वे सज्जन बोले- 'नहीं-नहीं, बच्चा ले रहा है, उसे ही लेने दो।'

मैंने पीछे मुड़कर देखा। लम्बे, गोरे एक खूबसूरत व्यक्ति मेरे पीछे खड़े थे। बाद में जाना- उनका नाम श्री केष्टोपद पाल था। विशिष्ट एवं धनी व्यक्ति थे।

माँ लक्ष्मी का उन पर वरदहस्त होने के साथ-साथ वे हृदय से उदार और मन से भी धनी थे। इस तरह के व्यक्ति बहुत मुश्किल से ही मिलते हैं। उनके प्रति मैंने श्रद्धा से सिर झुकाया था। उनके घर के पास ही एक विशाल तालाब था। बीच-बीच में पिताजी का हाथ थामकर वहाँ नहाने जाता था। तालाब के बीच में बड़ी-बड़ी मछलियाँ पंक्तियों में तैरती थीं। देखने में बहुत अच्छा लगता था।

हमारी एक गाय थी। दूध-सा सफेद रंग। देखने में घोड़े के समान। नाम शान्ति। किसी ने व्यंग्य में यह नाम दे रखा था। वह गाय थी अशान्ति की साक्षात् मूर्ति।

आज सुबह जो पुआल आदि का चारा उसे खाने में दिया गया, अगले दिन वह उसके लिए खाने लायक नहीं रह जाता था।

कितने भी प्यार-दुलार से उसे खिलाया-पिलाया क्यों न जाय, वह दूध देती थी दो सेर- दोनों बेला एक-एक सेर करके। न इससे कम, न ज्यादा।

खुला पाते ही वह सीधे किसानों के खेत में जा घुसती थी। एक बार खड़ी फसलों पर मुँह मारे बिना मानो उसे तृप्ति नहीं मिलती थी। नाटक करने में उस्ताद। किसान जब रस्सी लेकर उसे पकड़ने आते थे, तब भागकर वह हमारे घर के पास के आम-बागान तक आती थी और वहाँ चारों पैर ऊपर उठाकर जमीन पर पड़ जाती थी। आँखें बड़ी-बड़ी कर लेती और जीभ बाहर लटका लेती। यह दशा देख किसान डरकर उल्टे पाँव लौट जाते थे। किसान के नजरों से ओझल होते ही फिर उठकर खड़ी हो जाती थी।

एक बार वह एक किसान के पकड़ में आ ही गयी। खूँटे से बाँधकर रख लिया उसने। खबर मिलने के बाद एक व्यक्ति को तय किया गया, शान्ति को ले आने के लिए। वह रस्सी लेकर चला और साथ में था मैं। जाकर देखा कि गाय खूँटे से बँधी हुई थी।

जहाँ तक दृष्टि जा रही थी, क्षितिज तक धान के खेत फैले हुए थे। धान के हरे पौधे हवा में लहरा रहे थे। मन को मंत्रमुग्ध कर देने वाला दृश्य। वह किसान हमें देख थोड़े गुस्से में ही बोला- 'हमारी तकलीफों को आप लोग थोड़े ही समझ पायेंगे बाबू। देखिए, कि क्या खाकर जिन्दा हैं हम।' कहने के बाद एक झोपड़ी से मुड़ी-तुड़ी एनामेल की एक कटोरी उठा लाया। उसे दिखाते हुए फिर बोला- 'यह देखिए, क्या खाकर जिन्दा हैं हम।' कटोरी में थोड़े-से सूखे चने थे। सोचकर आश्चर्य होता है कि खेतों में इतना धान उगाते हैं ये और नसीब में इनके चना ही जुटता है!

उस दिन छोटी उम्र में इसके पीछे के कारण को मैं नहीं समझ पाया था।

किसान का वह कथन आज भी प्रासंगिक है। आज प्रायः 85 साल बीत जाने के बाद भी क्या कुछ भी नहीं बदला है?

किसान ने बिना कोई क्षतिपूर्ति लिए गाय को छोड़ दिया था। पता नहीं क्यों, मुझे ऐसा लगता है कि किसान को क्षतिपूर्ति का दावा करना चाहिए था।

सुबह के समय मैदान में खेल रहे थे हम तीन जन। मैं, मेरे ताऊजी के बेटे मतिलाल और हमारे प्रतिवेशी अश्विनी दत्त के छोटे भाई। नाम इस वक्त मैं याद

नहीं कर पा रहा। अचानक उसने कहा- 'मेरी मौसी के घर घूमने चलोगे?' हमारे पूछने पर कि कहाँ है, उसने बताया- ''कालीगंग', बहुत दूर पैदल चलना होगा।' घर में बताना नहीं हुआ। हम तीन किशोर चल पड़े कालीगंग के लिए। चल रहे हैं, तो चले ही जा रहे हैं- रास्ता खत्म नहीं हो रहा। मुझे थोड़ा डर भी लगने लगा। पता नहीं, कितनी दूर जाना पड़ेगा। पगडण्डियों पर से हम चले जा रहे थे। कई बस्तियों, कई बियाबानों से गुजरते हुए प्रायः दो घण्टे चलने के बाद जाकर हम गन्तव्य स्थल पर पहुँचे।

उसके आत्मीय-स्वजन किसान मालूम पड़ रहे थे। सभी ऊँचे कद के और गोरे थे। हमारी उपस्थिति से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा- सभी अपने-अपने कामों में व्यस्त रहे। पहले नाश्ते के लिए मूढ़ी (मुरमुरे) दी गयी, फिर दोपहर का भोजन। मछली-भात, दाल-सब्जी और साथ में दूध। इसके बाद हम पास में ही कालीगंग देखने गये। नदी का पानी कालापन लिये था, इसलिए इसका नाम ऐसा पड़ गया होगा- 'काली गंगा।' इस पार से उस पार का किनारा नहीं दिख रहा था- विशाल झील का आभास हो रहा था। बहुत-से लोग छिप (बन्सी) से मछलियाँ पकड़ रहे थे। दोपहर के तीन बज गये। अब हमें घर लौटना था। लौटते समय सबने फिर आने को कहा। उनके व्यवहार में कृत्रिमता लेशमात्र भी नहीं थी। घर लौटते-लौटते शाम ढल गयी थी।

हमारे घर के पास एक मुसलमान दम्पत्ति रहते थे। बहुत ही गरीब तथा निस्सन्तान। एक पाये हुए बच्चे को अपने पास रखकर उसका लालन-पालन कर रहे थे। उनकी इच्छा हुई- बच्चे का अन्नप्राशन (मुँहजूठी) करने की। इस उपलक्ष्य पर हम लोगों को निमंत्रित किया। शाम ढलने के बाद हम लोग उनके घर पर उपस्थित हुए। दुर्भाग्यवश, आज उनका नाम याद नहीं कर पा रहा हूँ। विभिन्न आयु के हम आठ-दस जन उपस्थित थे। चूँकि हम सारे हिन्दू थे, इसलिए स्वाभाविक रूप से भोजन पकाने से लेकर परिवेशन तक सारा काम हिन्दूओं द्वारा ही किया जा रहा था। अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकवान बनवाने में कोई त्रुटि नहीं रखी थी उन्होंने। हम पंक्ति में बैठ भोजन कर रहे थे। पकवान खत्म कर हम मांस की प्रतीक्षा में बैठे हुए थे। वे हर पाँच-सात मिनट में आकर बोले जा रहे थे- 'आप लोग जरा बैठिए, मांस पक रहा है।' हम लोगों को लगने लगा- कहीं कुछ

गड़बड़ है। कालविलम्ब न कर मैं उठ खड़ा हुआ और मेरे देखा-देखी बाकी सभी भी उठ खड़े हुए। चूँकि बच्चे का अन्नप्राशन था, इसलिए पिताजी ने काँसे की एक थाली खरीदकर दी थी- आशीर्वाद के रूप में देने के लिए। सज्जन के हाथ में उसे देकर नमस्कार कर मैं चला आया।

दिन भर मूसलाधार वर्षा। रात थोड़ी-सी थमी- रात के दस बज रहे होंगे। मेरे छोटे भाई दिलीप को गोद में लेकर पिताजी बैठे हुए थे। उसकी धड़कनें बढ़ी हुई थीं। किसी गम्भीर बीमारी की आशंका से हम सभी दुश्चिन्ताग्रस्त थे। उसकी उम्र तीन साल थी और मेरी पाँच। पिताजी ने पूछा- 'डॉक्टर के पास जा सकोगे?'

मैंने कहा- 'जा सकता हूँ।'

स्कूल से घर लौटते समय मेन रोड से लौटता था और रास्ते के दोनों तरफ के साईन-बोर्ड को पढ़ता था। वर्षा से भींगी रात, कहीं कोई आहट नहीं, घना अन्धकार। रह-रहकर कड़कती बिजली। बहुत डर लग रहा था। जैसे भी हो, डॉक्टर के पास पहुँचना ही होगा। टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों से होकर ईंटों से बँधे रास्ते पर आया। इस रास्ते के पीछे से रेल-लाईन गुजरती थी। कुछ दूर चलकर रेल-लाईन को पार किया। यहाँ से एक छोटी-सी गली मेन रोड तक जाती थी। प्रायः आधा घण्टा चलने के बाद मैं डॉक्टर की क्लिनिक तक पहुँचा।

कई बार उनके दरवाजे का कड़ा बजाने के बाद डॉक्टरबाबू ने दरवाजा खोला। हाथ में लालटेन। सारा विवरण सुनने के बोले- 'जा सकता हूँ, लेकिन पाँच रुपये विजिट के लगेंगे।' मैंने कहा- 'ठीक है।' दवाओं वाले उनके छोटे-से बैग को लेकर मैं चलने लगा, वे मेरे पीछे थे। घर पहुँचा। मरीज को देखकर उन्होंने दवाएं दीं। अगली सुबह आठ बजे अपने चेम्बर में आने के लिए कहा उन्होंने। दवाओं के दाम और पाँच रुपये विजिट उन्हें दिये गये। उनका बैग हाथ में लेकर मैं फिर चलने लगा। कुछ दूर चलने के बाद वे रूके। बोले- 'खोका, अब तुम घर चले जाओ, मैं अकेले ही जा सकता हूँ।' कहकर धीर कदमों से वे चल पड़े। इस खराब मौसम में भी चलकर वे रोगी देखने आये थे- इस बात की याद आने पर आज भी उनके प्रति श्रद्धा से सिर नत हो जाता है। उनकी दी गयी दवा से दिलीप ने द्रुत आरोग्य-लाभ किया था।

जीवन पथ पर चलते हुए अजस्र घटनाओं का साक्षी हुआ हूँ- स्मृति के कैनवस पर कुछ के रंग धुंधले पड़ गये हैं, तो कुछ की चमक आज भी बनी हुई है। म्युनिसपैल्टी से आया एक कर्मचारी लैक्टोमीटर से दूध की जाँच कर रहा है। दूध में पानी के मिलावट का पता चलते ही हाँडी सहित दूध ड्रेन में बहाये दे रहा है। एक व्यक्ति के हाथों में मिट्टी की बड़ी-सी हाँडी में दूध भरा हुआ था। पहनावे के नाम पर उसके शरीर पर एक गमछा और एक बनियान था। दोनों हाथ जोड़कर कह रहा था- 'इस बार के लिए छोड़ दीजिए बाबू।' लेकिन मैं जान रहा था कि अन्तिम परिणति क्या होगी, इसलिए वहाँ से हट गया था मैं।

मेन रोड पर फलों की एक दुकान के सामने कुछ पल ठहरा करता था। विभिन्न फलों की सम्मिलीत सुगन्ध को साँसों से भर लेता था। कहने की आवश्यकता नहीं, दुकान एक पेशावरी की थी। उनके बच्चे बहुत खूबसूरत थे। वे सभी बढ़िया बँगला बोलते थे। बीच-बीच में पिताजी उसी दुकान से फल खरीदकर दिया करते थे।

एक बार स्कूल में अपने हमउम्र एक लड़के से मैंने पूरे पाँच कँचे जीत लिये। मेरे क्लास का एक छात्र मेरा उत्साह बढ़ा रहा था। बेशक, उसके प्रचण्ड उत्साहवर्द्धन के कारण ही मैं ये कँचे जीत सका था। हम तीनों ही मेन रोड होकर घर लौट रहे थे। जिसने कँचे हारे थे, उसका मुहल्ला पास आते ही उसने मुझसे कँचे छीन लेने की कोशिश की। वह शारीरिक शक्ति में मुझसे ज्यादा बलवान था। कँचे वह नहीं छीन पाया- मेरे क्लास के उस छात्र के कारण, जिसने मेरा उत्साह बढ़ाया था। सच कहा जाय, तो उसकी उपस्थिति के कारण ही उस दिन मेरे कँचे बच गये। कोई उपाय न पाकर वह बलवान लड़का अपने घर चला गया। अब मेरे क्लास के लड़के ने विनीत भाव से एक कँचा माँगा। देखा जाय, तो कृतज्ञतावश मुझे खुद ही एक कँचा उसे देना चाहिए था, मगर अनिच्छा के साथ सबसे खराब जो एक कँचा था, वह मैंने उसे दिया। उसने बहुत खुशी के साथ उसे ग्रहण किया, तिलमात्र भी प्रतिवाद किये बिना। मेरी यह विकृत मानसिकता आज भी मुझे पीड़ा देती है।

रथयात्रा के दिन बहुत आनन्द होता था। मेन रोड पर रस्सियों से रथ को खींचा जाता था। पूरी तरह पीतल से बना रथ था, करीब तीस फुट ऊँचा। मेन रोड लोगों की भीड़ से भर जाता था। हम लोग अपनी (घड़ियों वाली) दुकान के बरामदे पर खड़े होकर देखते थे।

रथ के पुजारीगण केले के पत्ते के टुकड़ों में प्रसाद लपेटकर लुटाते थे। हम लोग आनन्द के साथ उन्हें चुन लेते थे। सात दिन रथ रेलवे-फाटक के पास खड़ा रहता था। घर जाते समय रथ के सामने बने पीतल के दो घोड़ों पर हम दोनों भाई बैठा करते थे। पिताजी साथ ही रहते थे। आस-पास मेला लगा रहता था, विभिन्न प्रकार की चीजें बिकती थीं।

पद्मा नदी की शाखा नदी का नाम 'गरई' था। शाखा नदी होने पर भी बड़ी नदी थी यह। कुस्टिया शहर के पास से गुजरती थी। पिताजी के साथ दुर्गा प्रतिमा विसर्जन देखने जाता था। मेरी उम्र तीन-चार साल थी। छोटी धोती और कुरता पहनकर नदी के रेतीले किनारे पर विसर्जन देखने जाता था। बहुत भीड़ होती थी। पंक्तिबद्ध होकर नौकाएं चलती थीं। दो नावों के बीच एक पटरे पर प्रतिमा रखी जाती थी। काँसे की घण्टियाँ बजती थीं। धूपदानी से निकलते धुएं से आरती होती थी। यह एक दर्शनीय दृश्य होता था। दोनों नावें धीरे-धीरे एक दूसरे से दूर होती थीं और बीच में (पटरे पर) रखी प्रतिमा जल में समा जाती थी।

नाना प्रकार की आतिशबाजी चलती थी। आकाश में बहुत ऊँचाई पर जाकर अनार फूटते थे और स्फुलिंग नीचे गिरते थे।

सारी प्रतिमाओं के विसर्जन के बाद अब घर लौटने की बारी होती थी। सन्ध्या ढल रही होती थी। आकाश में गोल थाली के समान चाँद उगता था। हवाओं में शरत के शीत की छुअन होती थी। पिताजी का हाथ थामे धीरे-धीरे चलता था। मन-प्राण पुलकित हो रहा होता था- एक अवर्णनीय आनन्द से सराबोर। वह दृश्य मानस-पटल पर आज भी अम्लान है।

लौटते हुए विभिन्न प्रकार की मिठाईयाँ खरीदकर पिताजी के साथ खुशी-खुशी घर लौटता था।

बेलघरिया

साल 1947 के 15 अगस्त के दिन भारत स्वाधीन हुआ, लेकिन विभाजन टाला नहीं जा सका। देश के दो हिस्से पाकिस्तान बन गये। हम रातों-रात पाकिस्तानी हो गये।

ताईजी सपरिवार बेलघरिया चली गयीं। चचेरे भैया लोग मोहिनी मिल में काम करते थे, उन्हें बेलघरिया के मोहिनी मिल नं.- 2 में काम मिल गया था। इसी सूत्र से उनका बेलघरिया जाना हुआ। मकान आदि छोड़ गये। परवर्तीकाल में बिहार से आये शरणार्थियों के हाथ चला गया मकान। हम लोग रह गये थे। बेशक, कुछ महीनों बाद हम लोग भी बेलघरिया पहुँच गये। पिताजी कुछ महीने हमारे साथ बेलघरिया में रहे। दुकान की जिम्मेदारी पंचानन्द ताऊजी पर थी। एक परिचित सज्जन को मकान के देखभाल की जिम्मेदारी दी गयी थी। वे परिवार सहित वहाँ रहते थे।

बेलघरिया में कुछ दिन रहने के बाद पिताजी फिर कुस्टिया लौट गये। बेलघरिया में हम लोग तीन-चार महीने थे। एक छोटा मकान दस रुपये के मासिक किराये पर लिया गया था। यहाँ रहते हुए कुछ लोगों से परिचय हुआ था, उनमें से एक युवक थे- बोम्बाना विश्वनाथन। बाद के दिनों में बँगला पत्र-पत्रिकाओं में उनका नाम देखने का अवसर मिला- वे तमिल साहित्य का बँगला में अनुवाद करते थे। अनुवाद होने पर भी पढ़ने में अच्छा लगा था। वहीं पर एक छोटा नाटक लिखा गया था, सबने मिलकर वह किताब मुझे उपहार में दिया था। नाटक में वाम विचारधारा की थोड़ी-सी छाप थी।

बेलघरिया नन्दननगर और आगरपाड़ा के बीच सरकण्डे के बड़े-बड़े जंगल हुआ करते थे। दिन के समय भी आम तौर पर उस तरफ कोई नहीं जाता था। कभी-कभार बाबू लोग बन्शी लेकर वहाँ मछली मारने आया करते थे। सुना था कि कभी-कभी वहाँ मगरमच्छ भी नजर आ जाते थे।

नन्दननगर से सीधे विराटी- बीच-बीच में घूमने जाया करता था। नन्दननगर चौराहे के सिरे पर एक पक्का मकान था और उसके बाद विराटी के पास सड़क के किनारे एक पक्का मकान था। बाकी बीच में दोनों तरफ खेत, मैदान और बागान हुआ करते थे। नन्दननगर के नजदीक ही बहुत विशाल एक खुला मैदान

था। वहाँ हम लोग फुटबॉल खेलते थे। आज आमूल परिवर्तन हो चुका है। आज अब कहीं तिल धरने की भी जगह नहीं है।

बीच-बीच में फिल्में देखकर समय बिताता था।

इस बीच होली आयी। एक किशोरी बहुत सुन्दर हुआ करती थी। मेरी उम्र के कुछ किशोरों ने उसका नामकरण किया था- मधुबाला। इस होली में किसी तरह मधुबाला को रंग लगाना है- इसी को लेकर विचार-विमर्श चल रहा था। बड़ा सवाल था कि बिल्ली के गले में घण्टी कौन बाँधेगा? सबने कहा- 'तुम यहाँ नये हो, तुम्हें खास कोई पहचानता नहीं है, इसलिए तुम्हें ही यह काम करना होगा।' थोड़ा डर तो लग रहा था, लेकिन यह सोचकर अच्छा भी लग रहा था कि मुझे ही इस काम के लिए सेलेक्ट किया गया है। यथासमय सबने मिलकर मुझे रंग भरी पिचकारी थमा दी और बता दिया कि कहाँ जाकर कैसे रंग डालना है। दोपहर की बेला थी। धड़कते दिल के साथ- शायद हाथ भी थोड़ा काँप रहे हों- मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ गया। बड़ी-बड़ी खिड़कियों के झाँककर देखा- तथाकथित मधुबाला दूसरी तरफ मुँह करके बैठी हुई थी।

मेरी उपस्थिति से सजग होकर वह पलटी तथा मेरे हाथ में पिचकारी देख भागने लगी। भागती हुई तथाकथित मधुबाला पर मैंने पिचकारी से रंग तो डाला, लेकिन मेरी बदकिस्मती से वह रंग उसके शरीर पर न लगकर भोजन की थाली में सजे भात, दाल, सब्जी में जा गिरा। इसी के साथ एक महिला की उच्च स्वर में चीख-पुकार सुनायी पड़ने लगी। मैं भौंचक्का। भागकर रास्ते की मोड़ पर जाकर प्रमाद सुनने लगा। इसके बाद की अवस्था के बारे में सहज ही अनुमान लगाया कि अब कोई बवण्डर मचेगा- उसके संकेत दिखायी पड़ने लगे, लेकिन सौभाग्य से ऐसा कुछ नहीं हुआ। घटना की याद आज भी स्पष्ट है।

फागुन का रंग शायद शरीर के साथ-साथ मन को भी रंग जाता है। स्वाभाविक रूप से एक-एक कर दोस्त सभी आकर इकट्ठा हुए। घटनाक्रम जानने के लिए वे कौतूहल भरी निगाहों से मेरी तरफ देख रहे थे। घटनाक्रम का विवरण सुनने के बाद सभी मुझे घूर-घूरकर देखने लगे। उन्हें अफसोस था कि इतना सुन्दर एक मौका हाथ से निकल गया। प्रतिक्रिया कुछ ऐसी थी कि मानो मेरे-जैसे अनाड़ी के हाथों में पिचकारी थमाकर उन लोगों ने भारी भूल कर दी हो! दूसरी तरफ, मैं यही सोचकर खुश हो रहा था कि चलो, किसी तरह का कोई बखेड़ा खड़ा नहीं हुआ।